# प्रिंसिपल साहब का होना

मणीश कुमार ठाकुर

स्वातंत्र्योत्तर भारत में 1960, 1970 और 1980 के दशकों में भारत के छोटे शहरों, कस्बों और गाँवों में शैक्षिक संस्थाओं का ऊर्ध्वगामी और क्षैतिज विस्तार हुआ। जिन गाँवों और कस्बों में पहले से प्राथमिक और मध्य विद्यालय थे वहाँ उच्च विद्यालय और महाविद्यालय स्थापित हुए। जिन छोटे शहरों में पहले से दो उच्च विद्यालय थे वहाँ चार उच्च विद्यालय स्थापित हुए। जहाँ पहले से एक कॉलेज था वहाँ दो कॉलेज स्थापित हुए। शैक्षिक संस्थाओं का यह विस्तार सिर्फ़ राज्य की योजनाओं के अन्तर्गत नहीं हुआ, ज़्यादातर ये संस्थान स्थानीय लोगों की पहलक़दमियों से स्थापित हुए। जन सहयोग से स्थापित ये संस्थान स्थानीय चेतना के उदात्त और तुच्छ पहलुओं को एक साथ उजागर करते हैं। ऐसे ही एक संस्थान को नेतृत्व देने वाले प्रधानाचार्य के व्यक्तित्व को यह संस्मरणात्मक लेख सामने लाता है। स्कूल या इंस्टीटूशनल लीडरशिप की चर्चा कई बार ऐतिहासिक और सामाजिक सन्दर्भों की अनदेखी करते हुए की जाती है। इंस्टीटूशन और इंस्टीटूशनल लीडरशिप की ठोस परख के लिए ज़रूरी है कि उन्हें उनकी ऐतिहासिक और सामाजिक अवस्थिति के साथ समझा जाए। यह संस्मरणात्मक लेख एक ख़ास परिवेश में विकसित हुई इंस्टीटूशनल लीडरशिप की रूपरेखा को उसकी तमाम जटिलताओं के साथ उकेरने की कोशिश करता है।

भारत में 1960-70 के दशक में उच्च शिक्षा का सांस्थानिक विस्तार हुआ। नए-नए कॉलेज और विश्वविद्यालय खुले। नए क़िस्म के ये कॉलेज और विश्वविद्यालय आज़ादी के आसपास मौजूद कॉलेजों से कई मायनों में भिन्न थे। ये कॉलेज और विश्वविद्यालय बड़े-बड़े शहरों और प्रेसिडेंसी राजधानियों में न होकर अपेक्षाकृत छोटे शहरों-कस्बों, ज़िला-प्रमण्डल मुख्यालयों में थे। भूमि-सुधार क़ानून के लागू हो जाने से ग्रामीण परिवेश की शिथिलता कुछ तो कम हुई थी जिससे 'मझोली' कृषक जातियाँ आधुनिक शिक्षा की ओर अग्रसर हुई थीं। 'अगड़ी' जातियों के ग्रामीण तबक़े में भी शिक्षा की ओर रुझान मज़बूत हुआ : लड़के दूर शहरों में जाने लगे तो लड़कियाँ प्रायः आसपास के स्कूल-कॉलेज में। भारतीय भाषाओं के अख़बार नए-नए पाठकों तक पहुँचने लगे थे। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि जनतांत्रिक चुनाव नई आकांक्षाओं को उद्वेलित करने लगे थे तथा एक नई क़िस्म की सामुदायिक प्रतिस्पर्धा के जनक बन चुके थे। 1960-70 के दशक में बने नए संस्थान भारतीय भाषाओं के माध्यम से वैसे लोगों को अपनी ओर खींचने लगे जो एक लम्बे अरसे तक अँग्रेज़ी के भय से त्रस्त थे– बहुतेरे इसी कारण मैट्रिक की दहलीज़ पार नहीं कर पाते थे। प्रकारान्तर से इसे स्वातंत्र्योत्तर भारत में उच्च शिक्षा के जनतांत्रिकरण की पहली लहर भी कहा जा सकता है।

उच्च शिक्षा के इन नए संस्थानों के गठन में सरकार की भी भूमिका रही, लेकिन ऐसे अनेक संस्थान स्थानीय प्रबुद्धजनों की पहल

पर भी खुले। इन स्थानीय पहलों को प्रायः समाज-सुधार, समाज-सेवा, जातीय कल्याण, शैक्षणिक-सांस्कृतिक विकास जैसे मुहावरों में अभिव्यक्त किया गया।

यह बात 1967 की है। एक सम्पन्न किसान ने अपनी कुछ ज़मीन दान देकर बिहार के मधुबनी ज़िले के एक छोटे-से गाँव त्रिमुहान में एक कॉलेज की स्थापना की— महाकवि कालिदास स्मारक महाविद्यालय, त्रिमुहान। उसी साल उस महाविद्यालय से दस किलोमीटर दूर एक दूसरा महाविद्यालय खुला— महाकवि विद्यापति स्मारक महाविद्यालय। नाम पर न जाएँ। ऐसा नहीं कि इस इलाक़े के लोगों में कविता के प्रति अथाह प्रेम है और क्लासिक कवि को वे ऐसे पूजते हैं जैसे फ़्राँसीसी लोग अपने दार्शनिकों को। चूँकि पहला कॉलेज भूमिहार कॉलेज के रूप में देखा गया तो प्रतिस्पर्द्धा में मैथिल ब्राह्मणों ने दूसरा कॉलेज खोल दिया। बहुत समय से बिहार में एक अनौपचारिक जातीय समझ चली आ रही है जहाँ विश्वविद्यालयों को ख़ास जातियों से जोड़कर देखा जाता है। जैसे पटना विश्वविद्यालय में यदि एक कायस्थ कुलपति नियुक्त होते हैं तो 'समावेशी' राज्य सरकार मुजफ्फरपुर की बाबासाहब भीमराव अम्बेदकर बिहार यूनिवर्सिटी में एक भूमिहार कुलपति और दरभंगा के मिथिला विश्वविद्यालय में एक मैथिल ब्राह्मण कुलपति नियुक्त कर तत्काल सामाजिक 'समीकरण' को दुरुस्त कर देती है। बहरहाल, कुछ साल बाद त्रिमुहान में स्थित इस कॉलेज को पास के एक दूसरे गाँव चंदौना में स्थानान्तरित कर दिया गया। चंदौना रेलवे लाइन किनारे बसा हुआ एक गाँव है जहाँ से पक्की सड़क भी गुज़रती है। चंदौना से पास के कस्बे पुपरी की दूरी मात्र पाँच किलोमीटर है इसलिए कॉलेज के संस्थापकों को लगा कि चंदौना में कॉलेज को स्थानान्तरित कर देने से कॉलेज में आसपास के अधिक विद्यार्थी आएँगे। चंदौना स्थानान्तरित हो जाने के बाद इस महाविद्यालय का नया नाम पड़ा— महाकवि कालिदास सूर्यदेव महाविद्यालय, त्रिमुहान-चंदौना। 1980 ई. में बिहार में सौ से ज़्यादा कॉलेज विभिन्न विश्वविद्यालयों की अंगीभूत इकाई बना दिए गए, यानी उनका सरकारीकरण हो गया। शिक्षकों-कर्मचारियों को राज्य सरकार द्वारा निर्धारित वेतनमान मिलने लगा। इन्हीं सौ महाविद्यालयों में त्रिमुहान-चंदौना कॉलेज भी था। अब यह कॉलेज मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा की एक अंगीभूत इकाई है। आगे मैं इसी एक कॉलेज— महाकवि कालिदास स्मारक विश्वविद्यालय, त्रिमुहान-चंदौना के नामी-गिरामी प्रिंसिपल साहब का शब्द-चित्र संक्षेप में उकेरने की कोशिश करूँगा।

कालखण्ड : 1980–86; स्थान : चंदौना (दरभंगा-सीतामढ़ी की सीमा पर बसा गाँव) और उससे सटा पुपरी जिसका स्टेशन जनकपुर रोड के नाम से जाना जाता है और जो तब तक प्रखण्ड मुख्यालय था। पहली बात यह कि प्रिंसिपल साहब भूमिहार थे, होना ही था चूँकि कॉलेज भूमिहारों का था। उन्हें भगवानपुर (ज़िला वैशाली, बिहार) से आमंत्रित कर चंदौना लाया गया जहाँ वे 'दर्शनशास्त्र' के प्राध्यापक थे। वे रहने वाले मुंगेर जिला के थे और उनका एमए पटना विश्वविद्यालय से था। लम्बे थे, भरा-पूरा शरीर था, खादी पहनते थे। इसका ज़िक्र ज़रूरी है क्योंकि स्थानीय लोग उनका बखान बहुधा उनकी विशिष्ट क़द-काया से शुरू करते थे। भगवानपुर में रहते हुए एक बार विधान सभा का चुनाव भी लड़ चुके थे। चुनाव हार गए। उनके प्रतिद्वन्द्वी कांग्रेस के वरिष्ठ नेता एल पी साही

पहली बात यह कि प्रिंसिपल साहब भूमिहार थे, होना ही था चूँकि कॉलेज भूमिहारों का था। उन्हें भगवानपुर (ज़िला वैशाली, बिहार) से आमंत्रित कर चंदौना लाया गया जहाँ वे 'दर्शनशास्त्र' के प्राध्यापक थे। वे रहने वाले मुंगेर ज़िला के थे और उनका एमए पटना विश्वविद्यालय से था।

थे जो आगे चलकर दिल्ली में कैबिनेट मंत्री बने। प्रिंसिपल साहब अपने-आप को गाँधीवादी-सर्वोदयी मानते थे।

कार्यानन्द शर्मा एक यशस्वी प्रिंसिपल थे। कॉलेज में कक्षाएँ नियमित होती थीं। उन्होंने कॉलेज का काफ़ी विकास किया : आजकल की भाषा में इंफ्रास्ट्रक्चर का निर्माण किया– भवन, छात्रावास, खेल का मैदान, चारदीवारी इत्यादि। अमूमन यह सब उन्होंने घूम-घूम कर चन्दा लेकर किया, महज़ सरकारी अनुदान या यूजीसी के ग्रान्ट से नहीं। चन्दा उगाही की क्षमता तथा उसका कॉलेज की अधिरचना-निर्माण में निवेश उनकी प्रतिष्ठा व प्रसिद्धि के केन्द्र में था। प्रिंसिपल रहते हुए उन्होंने दो बड़े आयोजनों के लिए भी चन्दा इकट्ठा किया था: (1) बिहार दर्शन परिषद के त्रयोदश अधिवेशन के लिए जिसका आयोजन उनके कॉलेज में हुआ था; और (2) शान्ति-सेना के प्रान्तीय अधिवेशन के लिए जिसमें उस समय के जाने-माने गाँधीवादी-सर्वोदयी आचार्य राममूर्ति एवं विमला ठक्कड़ शरीक हुई थीं। कुछ उनके सहयोगी व सहकर्मी इस बात से नाराज़ रहते थे कि प्रिंसिपल साहब बेवजह पुपरी के माड़वाड़ी दूकानदारों के सम्मान में इज़ाफ़ा कर रहे हैं उनके घर जाकर यानी वे इन व्यवसायियों को कुछ ज़्यादा ही भाव देते हैं अर्थ संग्रह की ख़ातिर।

कॉलेज में प्रिंसिपल साहब ने काफ़ी कुछ किया जो नि:सन्देह प्रशंसनीय है। परन्तु मेरी रुचि उन चीज़ों को रेखांकित करने में है जो






चित्र : शिवेंद्र

कॉलेज और समुदाय के सम्बन्धों पर टीका-टिप्पणी करती हैं। जैसे– उन्होंने छुआछूत को ख़त्म करने के उद्देश्य से एक चतुर्थवर्गीय कर्मचारी की ड्यूटी स्टाफ़ रूम में लगा दी ताकि ज़्यादातर सवर्ण शिक्षक उसके हाथों जल ग्रहण कर अनुकरणीय मिसाल क़ायम करें। वह चतुर्थवर्गीय कर्मचारी उस जाति से आते थे जिसे 'ऊँची' जाति के लोग अछूत मानते रहे हैं। वे हमेशा साफ़ लिबास में रहते थे और सफ़ाई का पूरा ध्यान रखते थे। प्रिंसिपल साहब यह बताते अघाते नहीं थे कि वे मद्यपान और माँसाहार से परहेज रखते हैं। उक्त कर्मचारी हमेशा अपने गले में तुलसी की माला (कण्ठी) पहनते थे और प्रिंसिपल साहब कण्ठी व जनेऊ दोनों। फिर भी 'ऊँची' जाति के एक प्राध्यापक ने उसके गिलास से कभी जल ग्रहण नहीं किया। उक्त प्राध्यापक का रोष यह भी था कि वही शीशे का गिलास मुस्लिम प्राध्यापकों के ओठों को भी छूता है। हिन्दू माटी-मुस्लिम माटी की अपरिहार्य भिन्नता से आवेशित प्रोफ़ेसर साहब इसको हिन्दू रीति-रिवाज पर कुठाराघात समझते थे।

धीरे-धीरे प्रिंसिपल साहब ने कर्मचारियों की नियुक्ति को भी कुछ समावेशी बनाया। शुरुआती दौर में चतुर्थ श्रेणी के बहुतेरे कर्मचारी भी भूमिहार थे। सरकारी नौकरी की बात थी। उनके कार्यकाल में अलग-अलग जातियों और धर्मों के कर्मचारियों की नियुक्ति हुई। इनमें मुस्लिम, अनुसूचित और पिछड़ी कही जाने वाली जातियों के लोग थे। उन्होंने इसी श्रेणी में एक महिला की भी नियुक्ति की– गर्ल्स कॉमन रूम की देख-रेख के लिए। दो महिला प्राध्यापिकाएँ पहले से थीं। हालाँकि इस समावेशन की सीमा थी। अधिकांश प्राध्यापकों की नियुक्ति प्रिंसिपल साहब के कॉलेज में आने से पहले ही हो चुकी थी। प्राध्यापक अधिकांशतः भूमिहार और अन्य 'ऊँची' कही जाने वाली जातियों से ही थे। यदि आप कॉलेज को एक इकाई मानकर उसके सामाजिक चरित्र को बारीक़ी से देखेंगे तो पाएँगे कि वह एक प्रतिनिधि गाँव जैसा था जहाँ एक जाति-विशेष का वर्चस्व था, परन्तु और जातियों के भी एक-दो लोग थे जजमानी तंत्र के अन्तर्सम्बन्धों की मज़बूती के वास्ते।

**यदि आप कॉलेज को एक इकाई मानकर उसके सामाजिक चरित्र को बारीक़ी से देखेंगे तो पाएँगे कि वह एक प्रतिनिधि गाँव जैसा था जहाँ एक जाति–विशेष का वर्चस्व था, परन्तु और जातियों के भी एक–दो लोग थे जजमानी तंत्र के अन्तर्सम्बन्धों की मज़बूती के वास्ते।**

प्रिंसिपल साहब कुशल प्रशासक थे। कक्षाएँ सुचारु रूप से चलती थीं। कभी-कभी किसी शिक्षक के अनुपस्थित होने पर ख़ुद ही कक्षा में चले जाते थे। किसी विषय की भी कक्षा हो, हिन्दी-अँग्रेज़ी व्याकरण या तुलसीदास कृत रामचरितमानस पढ़ाकर छात्रों को पचास मिनट तक उलझाए रखते थे। अच्छे व्यवस्थापक या प्रबन्धक भी थे।

कॉलेज की तरफ़ से सरस्वती पूजा का आयोजन होता था। कार्यालय द्वारा छात्रों से चन्दा लिया जाता था बिलकुल शिक्षण शुल्क की तरह। परन्तु सारे छात्रों को इस अवसर पर आधा किलो बूँदी का पैकेट और गीताप्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित तुलसीदास कृत *रामचरितमानस* या *गीता* की एक प्रति मिलती थी– 'नित्य पाठ के लिए' उनके हस्ताक्षर के साथ। इस छोटी-सी बात की महत्ता को वही लोग आँक सकते हैं जिन्होंने सरस्वती पूजा आयोजन के वीभत्स रूप को देखा है। उस क्षेत्र में यह 'युवा-शक्ति' की विस्फोटक क्षमता का प्रतीक होता है : जबरन चन्दा वसूली, गुटबाज़ी, मार-पीट, नाच-गाना-शराब, सार्वजनिक शोर-गुल।

चूँकि कॉलेज ग्रामीण इलाक़े में था, क़रीब पच्चीस-तीस किलोमीटर की परिधि के गाँवों के पुरुष छात्र साइकिल चलाकर, बस और ट्रेन से

कॉलेज आया-जाया करते थे। वे सब तो प्रिंसिपल साहब को जानते ही थे, उनके माध्यम से उनके भिन्न-भिन्न गाँवों के बहुतेरे लोग भी उन्हें जानते थे। उनके लिए वे मात्र प्रिंसिपल ही नहीं थे, बल्कि वे उनके मार्गदर्शक, परामर्शदाता, प्रेरणा-स्रोत, रोल-मॉडल थे। इसी तरह अन्य लोग भी प्रिंसिपल साहब से जुड़े हुए थे जैसे– पुपरी के माड़वाड़ी दूकानदार। शादी-ब्याह-श्राद्ध आदि मौक़ों पर जब कभी किसी कर्मचारी-शिक्षक को उधार की ज़रूरत होती तो प्रिंसिपल साहब एक तरह से डिफ़ॉल्ट गारण्टर होते। ठण्ड के समय में स्थानीय खादी भण्डार के मैनेजर को बोलकर अपने कुछ निकट सहकर्मियों के लिए ऊनी कपड़ा या चादर भी उधार दिलवा देते थे। कभी-कभी सूद पर पैसे की व्यवस्था भी करवा देते थे। मतलब कि वे एक तरह से बहुतेरे परिवारों के मददगार भी थे। लोग उन्हें अपना शुभचिन्तक समझते थे और उनसे बेटे की पढ़ाई, बेटी की शादी या अवांछनीय प्रेम प्रसंग पर सलाह-मशविरा करते थे।

जैसे चंदौना के उनके एक प्रिय मित्र थे। सम्भ्रान्त-शालीन थे, हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक थे। बहरहाल, उनका ज्येष्ठ पुत्र पटना जाकर इंजीनियरिंग में दाख़िले की तैयारी के दरम्यान इप्टा जैसे संगठन से जुड़ गया और नाटक-वाटक करने लगा। बात फैल गई कि श्याम बाबू का बेटा कम्युनिस्ट हो गया है। अब इस महामारी का इलाज प्रिंसिपल साहब जैसे ओझा (sorcerer) ही कर सकते थे। प्रिंसिपल साहब आनन-फ़ानन में पिता के साथ पटना पहुँचे और पुत्र से वार्तालाप किया। साम्यवाद की मान्यताओं, जटिलताओं और भारतीय संस्कृति से उसके मेल न खाने पर चर्चा हुई। इसी तरह एक पुपरी के समृद्ध माड़वाड़ी व्यवसायी थे। प्रिंसिपल साहब का अच्छा बनता था। स्थानीय स्तर पर उनका रिश्ता कुछ ऐसा ही था जैसा महात्मा गाँधी और जमनालाल बजाज का सेवाग्राम आश्रम वर्धा के सन्दर्भ में। प्रिंसिपल साहब की प्रेरणा से उन्होंने अपनी मेधावी बिटिया को वहाँ के एकमात्र हाई स्कूल में पढ़ाया, बाद में वह पटना वीमेंस कॉलेज गई। पुपरी हाई स्कूल लड़कों के लिए भी है और लड़कियों के भी लिए। अफ़सोस कि इस माड़वाड़ी छात्रा का एक भूमिहार लड़के से प्रेम हो गया। पारिवारिक मर्यादा, स्थानीय वर्ण-व्यवस्था व वर्ग-सम्बन्धों पर इसके दूरगामी प्रभाव को देखते हुए प्रिंसिपल साहब ने पहल की और मामले को रफ़ा-दफ़ा किया।

**प्रिंसिपल साहब ईमानदार थे, घूस नहीं खाते थे। चाहते तो भवन निर्माण के क्रम में लाखों कमा सकते थे, परन्तु नहीं किया। पुस्तकालय के लिए पुस्तक क्रय में या प्रयोगशालाओं में उपकरण क्रय में कभी कमीशन नहीं खाया। चाहते तो कर सकते थे और ऐसा करते हुए भी अपना मान-सम्मान वर्चस्व बनाए रख सकते थे।**

ध्यातव्य हो कि प्रिंसिपल साहब के पास अपार ऊर्जा थी, अदम्य उत्साह था और लोगों से घिरे रहने की मानो आदत हो गई थी। उन्होंने इसका सकारात्मक उपयोग किया कॉलेज निर्माण हेतु व अन्य गतिविधियों के जनक के रूप में। मसलन, उन्होंने प्रत्येक मंगलवार को रामचरितमानस पर एक गोष्ठी की शुरुआत की। उसमें सुन्दरकाण्ड की कुछ चौपाइयों का गान होता था ढोलक और हारमोनियम की संगति में। तदुपरान्त प्रिंसिपल साहब का एक संक्षिप्त प्रवचन होता था। गोष्ठी समाप्त होते वक़्त लोग हाथ उठाकर बोलते थे– जगत का कल्याण हो, गौमाता की रक्षा हो, आदि-आदि। हर सप्ताह एक नया परिवार इस गोष्ठी का आयोजन करता था। ख़र्च मामूली था– एक-दो किलो मिश्री प्रसाद के रूप में। दो बातें सामने आती हैं : पहली बात, वह शहरीकरण का उस इलाक़े में शुरुआती दौर था : लोग गाँव में एक पैर रखते हुए छोटे-छोटे शहरों में घर बना रहे थे, यानी एक बहुजातीय परिवेश उभर रहा था बिना ग्रामीण जीवन की निश्चितता (certitude) के। ऐसे में प्रिंसिपल

साहब की मंगलवारी गोष्ठी सम्बन्धों का नया संजाल बुनने में सहायक हुई– छोटे-मझोले नौकरी पेशा लोग, व्यापारी-व्यवसायी, स्थानीय सम्भ्रान्तजन 'हिन्दू संस्कृति' के नवसर्जित सूत्रों के उन्नयन में अपना योगदान देने की सीमित क़ाबिलियत हासिल कर पाए– जातीय विविधता के बावजूद। दूसरा, प्रिंसिपल साहब एक मायने में राजनीतिक जीव थे। उन्हें हमेशा एक मंच चाहिए था। कॉलेज था, परन्तु उनके व्यक्तित्व को देखते हुए काफ़ी नहीं था। वह महज़ एक प्रिंसिपल नहीं थे। वे एक नई ज़मीन के निर्माता थे। बेशक, एक ज़मीन जो स्थानीयता को समेटते हुए उससे परे चली जाती थी, उसको जीवन, समाज, राजनीति, धर्म के व्यापक सरोकारों से जोड़ती थी। उन्हें हस्तक्षेप करना पसन्द था, लेकिन ऐसा नहीं है कि उनके हस्तक्षेप की सीमाएँ नहीं थीं। सीमाओं के बावजूद उसमें एक आलोड़न की क्षमता थी। वह आलोड़न एक गाँव, एक ख़ास कॉलेज, एक ख़ास कस्बे से आबद्ध नहीं था। सेवानिवृत्ति के बाद वे हनुमान आराधना मण्डल से जुड़ गए। पुपरी की मंगलवारी गोष्ठी प्रान्तीय हिन्दू अस्मिता के उत्थान की एक सहधारा थी।

प्रिंसिपल साहब ईमानदार थे, घूस नहीं खाते थे। चाहते तो भवन निर्माण के क्रम में लाखों कमा सकते थे, परन्तु नहीं किया। पुस्तकालय के लिए पुस्तक क्रय में या प्रयोगशालाओं में उपकरण क्रय में कभी कमीशन नहीं खाया। चाहते तो कर सकते थे और ऐसा करते हुए भी अपना मान-सम्मान वर्चस्व बनाए रख सकते थे। उस क्षेत्र में सरकारी पैसा खाना कुछ ज़्यादा अनैतिक नहीं माना जाता है। उल्टे आपकी तारीफ़ होती है। हमारे गाँव के इंजीनियर साहब को काफ़ी प्रतिष्ठा मिली जब उन्होंने कई सिंचाई परियोजनाओं का पैसा मारकर गाँव में एक आलीशान बँगला खड़ा किया। प्रिंसिपल साहब मितव्ययी थे : सादगी से रहते थे, सादा शाकाहारी खाना खाते थे। बचत की बदौलत और अपनी माँ की ख़्वाहिश के मुताबिक़ उन्होंने अपने पैतृक गाँव में अच्छा-ख़ासा पक्का मकान बनवाया था।

बहुत लोग उनकी मितव्ययिता का मज़ाक उड़ाते थे। एक प्रोफ़ेसर साहब का कहना था कि पैसा बचाना उनकी मजबूरी है क्योंकि उन्हें एक बड़ा परिवार चलाना है। अपनी तमाम सूझ-बूझ के बावजूद प्रिंसिपल साहब ने अपने बेटे की शादी सोलह साल की उम्र में ही कर दी थी। नतीजा यह कि उनका बेटा विधि का छात्र था मुजफ्फरपुर में, साथ में चार बच्चों का पिता भी। ख़र्चा प्रिंसिपल की आय से ही चलता था। बहुत दिनों तक उनके पास कोई मोटर वाहन नहीं था। कॉलेज रिक्शा से आया-जाया करते थे। सर्वोदयी-समाजवादी थे, परन्तु लोहिया के साइकिल रिक्शा पर न चढ़ने की ज़िद से परहेज रखना एक तरह की मजबूरी थी। उनका वजन एक क्विन्टल के आसपास था। इस कारण रिक्शा चालक को भाड़े के रूप में एक-दो रुपया ज़्यादा देते थे।

प्रिंसिपल साहब उस देश-काल के सन्दर्भ में हमारे लिए एक बड़े आदमी थे। वे हमारे स्कूल के आयोजनों में मुख्य अतिथि के तौर पर आते थे। अच्छा बोलते थे– गाँधी-बिनोवा-जयप्रकाश के बारे में। वे मूल रूप से सतत विघटनशील जनता पार्टी के क़रीब थे। उन्होंने आन्दोलनों में शिरकत की थी। इस कारण एक राजनीतिक पैनापन भी था। मैंने उनके घर भागलपुर से सांसद रहे गाँधीवादी दार्शनिक व विचारक श्री रामजी सिंह को ठहरते देखा है। रामजी सिंह एक ही जोड़ा धोती-कुरता रखते थे और प्रिंसिपल साहब के यहाँ अपनी पुत्री हेतु सुयोग्य भूमिहार वर ढूँढ़ने के क्रम में आए थे, परन्तु उनसे मिलने आसपास के कांग्रेसी विधायक भी आते थे। कई कार्यक्रम में भाकपा के नेता व सांसद कामरेड योगेन्द्र झा भी उनके कॉलेज आया-जाया करते थे। हम लोगों ने पहली बार कामरेड झा और डॉ. रामजी सिंह को दर्शन परिषद के अधिवेशन के दौरान अँग्रेज़ी में बोलते सुना। बिना कुछ समझे-जाने हम लोग मंत्रमुग्ध थे। बाद में पता चला कि वे लोग साम्यवाद-गाँधीवाद की आपेक्षिक विशिष्टताओं पर बहुत गहराई में जाकर बहस कर रहे थे। यह भान, कि ऊँचे स्तर के बौद्धिक विमर्श का 'सहज' माध्यम अँग्रेज़ी है, पहली बार हुआ।

वैसे ही उनके द्वारा आयोजित शान्ति सेना शिविर से हमने एक आन्दोलन में विद्यमान

'लीडरशिप' (leadership) व 'रैंक एंड फ़ाइल' (rank & file) के आपसी रिश्तों को समझा। ज़्यादातर स्वयंसेवकों का काम बाहर से आए विशिष्ट अतिथियों की सुविधा का ख़्याल रखना और श्रोता-वृन्द बनना था। कहते हैं कि उस छोटे-से शहर में सुश्री विमला ठक्कड़ के लिए उपयुक्त आवास की व्यवस्था के लिए प्रिंसिपल साहब को काफ़ी मेहनत करनी पड़ी थी : कोई होटल नहीं था, ढंग का कोई मकान भी नहीं, जहाँ बम्बई से आईं उन गाँधीवादी नेता को ठहराया जा सके। अन्त में जालान अतिथि भवन के एक कमरे को बजरंग बाबू के सौजन्य से सुसज्जित किया गया।

बाद में प्रिंसिपल साहब हनुमान आराधना मण्डल के बड़े-बड़े आयोजनों में जाने लगे। परन्तु वहाँ उनकी भूमिका बहुधा विशिष्ट अतिथि की थी, आयोजक की नहीं। प्रिंसिपल साहब की मंगलवारी गोष्ठी व प्रवचन ने तुलसीदास व उनके *रामचरितमानस* को एक नई जीवन्तता दी। वैसे भी उस क्षेत्र के जनमानस में तुलसी व *रामचरितमानस* काफ़ी लोकप्रिय हैं। प्रिंसिपल साहब की बौद्धिकता ने उस लोकप्रियता को नए रूप में गढ़ा, सजाया-सँवारा और प्रकारान्तर से धर्म के सार्वजनिक दिखावेपन को मज़बूत किया।

'धूत कहो, अवधूत कहो; रजपूत कहो, जोलहा कहौ कोऊ...' को उद्धृत करने वाले प्रिंसिपल साहब न तो अपने निजी पारिवारिक जीवन में जाति व्यवस्था की सीमाओं को लाँघ पाए और न ही ऐसी ज़मीन तैयार कर पाए जो जाति व्यवस्था को एक हद से अधिक लचीला कर पाए। गाँधीवादी प्रिंसिपल साहब ने प्रचलित रीति-रिवाजों एवं शादी-ब्याह, जनेऊ-उपनयन, मुण्डन-पूजा के इर्दगिर्द विद्यमान परम्पराओं को कभी नकारा नहीं, बल्कि अपनी सहभागिता से अनुमोदित ही किया।

प्रिंसिपल साहब बहुत बड़े विद्वान भले ही न हों, वहाँ के हिसाब से सुपठित थे व कुशल वक्ता थे। वैसे मोतीलाल बनारसीदास ने उनकी एक पुस्तक 'भारतीय दर्शन के मूल संप्रत्यय' प्रकाशित की है। उनका पीएचडी भी अधूरा ही रहा– गाँधीवादी दर्शन पर वे एक शोध प्रबन्ध लिख रहे थे।

कई मायने में प्रिंसिपल साहब ने उस क्षेत्र की चेतना-भित्ति को गहराई तक प्रभावित किया। उनकी मृत्यु के साथ पुपरी-चंदौना में एक युग का अन्त हो गया। प्रिंसिपल साहब की गतिविधियों ने, उनके नेतृत्व ने एक सिविक स्पेस बनाया जिसकी गुंजाइश उस परिवेश में नहीं या कम थी। यह सच है कि राष्ट्रीय आन्दोलन और जनतांत्रिक चुनावों में ऐसी प्रक्रियाओं का शुभारम्भ कर दिया था, परन्तु उसको पोषित करने की ज़रूरत थी– ऐसे कई मंचों का प्रिंसिपल साहब ने सृजन किया जहाँ लोग अपनी जाति या गाँव की रूढ़ अस्मिता को लाँघ पाए। इसी क्रम में ऐसा लगने लगा कि उनका कॉलेज राज्य द्वारा आरोपित कोई बाहरी संस्था नहीं है बल्कि समुदाय-समाज का अवयवी अंग है।

दूसरी बात कि अपने तमाम तुलसीवादी आग्रहों के बावजूद वे साम्प्रदायिक नहीं थे। शादी-विवाह के मामलों में जाति के दायरे का अतिक्रमण उन्होंने कभी नहीं किया, लेकिन किसी का अहित भी इस कारण नहीं करते थे कि वह आदमी उनकी जाति का नहीं था। प्रिंसिपल साहब में जिस हद तक वैचारिक उदारता थी, उस हद तक भी वैचारिक उदारता उस इलाके के पढ़े-लिखे लोगों में प्रायः नहीं थी। उनको देखते-सुनते सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलनों के उच्चादर्शों का अहसास होता था, परिवर्तनकामी चेतना की झलक मिलती, किसी सीमा तक लोक कल्याण का आदर्श झलकता था।

मणीश ने जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से समाजशास्त्र में एमए और गोवा विश्वविद्यालय से पीएचडी की है। इन दिनों मणीश इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ़ मैनेजमेंट, कोलकाता में 'पब्लिक पॉलिसी और मैनेजमेंट' के प्रोफ़ेसर हैं। समाजशास्त्र के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान के लिए उन्हें एम एन श्रीनिवास मेमोरियल पुरस्कार, राधा कमल मुखर्जी मेमोरियल और वी के आर वी पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। ग्रामीण विकास की नीतिगत और कार्यालयी चर्चाओं में 'गाँव' की बनने वाली छवियों पर इन्होंने शोध-प्रबन्ध लिखा है।
सम्पर्क : इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ़ मैनेजमेंट, कोलकाता। डायमण्ड हार्बर रोड, जोका, कोलकाता-700104, mt@iimcal.ac.in